क्या हों शिक्षा के नये सरोकार

❑ सुरेश पण्डित

'शिक्षा-विमर्श' के मई, 99 अंक (3) में प्रो. जमनालाल बाहेती का लेख 'शिक्षा के उद्देश्यों का पुनर्निधारण' शीर्षक से छपा था जिसमें उन्होंने बदलते वैश्विक परिदृश्य में शिक्षा के उद्देश्यों को लेकर नये सिरे से चिंतन का आग्रह करते हुए कुछ सुझाव दिये थे । इस संवाद को आगे बढ़ा रहे हैं सुरेश पंडित ।

शिक्षा के अधिकाधिक व्यवसायोन्मुख होते जाने का अनिवार्य परिणाम यह होता है कि तकनीकी विषय अन्य विषयों से अधिक महत्वपूर्ण होते चले जाते हैं । प्राद्यौगिकी दर्शन-शास्त्र को पीछे छोड़ देती है । विज्ञान के आगे रचनात्मक कलायें और मानविकी संकाय के विषय कमजोर पड़ जाते हैं ।

आज जब बाजार का तर्कशास्त्र शिक्षा का एजेन्डा तय करने लगा है तब यह जरूरी हो गया है कि हम शिक्षा के उद्देश्यों पर पुनर्विचार करें, उसके सरोकारों का फिर से निर्धारण करें ।

इसका एक महत्वपूर्ण उद्देश्य शिक्षार्थी में आलोचनात्मक दृष्टि विकसित करना हो सकता है। इस संबंध में ध्यान देने की बात यह है कि इसने लोगों को जितना अंधविश्वासी बनाया है उतना शायद अशिक्षा ने नहीं बनाया । इस आलोचनात्मक दृष्टि का तात्पर्य ही उस जड़ता या पाठ्य-पुस्तकों में बताई बातों को आंख मूंदकर स्वीकार लेने की मनोवृत्ति को तोड़ने से है जिसे आधुनिक शिक्षा ने पनपाया है । इसका पहला सूत्र ही यह है कि दुनियां में कुछ भी अन्तिम सत्य नहीं है । इसलिए हर बात को सब आयामों से जांच परख कर ही स्वीकार करना चाहिये और यह स्वीकृति भी तब तक के लिए ही स्थायी होनी चाहिये जब तक उस बात के बारे में आगे अन्य कोई विपरीतोन्मुख तथ्य का पता न लग जाये। इसका मतलब जिज्ञासु पैदा करना है, नास्तिक पैदा करना नहीं हैं। इसका विकास बच्चों में अपने परिवार के अभिभावकों, बुजुर्गों और स्कूल के अध्यापकों से संवाद के रिश्ते बनाकर किया जा सकता है। संवाद के माध्यम से सीखना एक अदभुत रोचक अनुभव हो सकता है क्योंकि इस प्रक्रिया से शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों के ही ज्ञान में वृद्धि होती है । अफसोस है आधुनिक शिक्षा व्यवस्था इस जिज्ञासु मनोवृत्ति को आरंभ से ही हतोत्साहित करती है । अधिक प्रश्न पूछने को न तो माता पिता पसन्द करते हैं न अध्यापक, क्योंकि बच्चों के छोटे छोटे सवालों का जवाब उनके पास भी नहीं होता। होना तो यह चाहिये कि वे इनका उत्तर तलाश करें और बच्चों की जिज्ञासा शान्त करें लेकिन अभिभावक व्यस्तता और शिक्षक पाठ्यक्रम पूरा करवाने की मजबूरी बताकर अपने इस दायित्व से छुटकारा पा लेते हैं । बच्चों को जब उनकी बातों का उत्तर नहीं मिलता तो वे भी सवाल पूछना छोड़ देते हैं । और जो कुछ बड़ों या शिक्षकों द्वारा बताया-पढ़ाया जाता है उसे ही सत्य मान ग्रहण कर लेते हैं । इस तरह उनकी आलोचकीय दृष्टि का ह्रास होता चला जाता है ।

शिक्षा के एक वैकल्पिक आदर्श के रूप में दर्शन को भी लिया जा सकता है । इस दर्शन से हमारा अभिप्राय सोचने या देखने के एक विशिष्ट तरीके या आलोचनात्मक अन्वेषण के एक अलग प्रकार के अनुभव से है । आप जब भारतीय इतिहास में महात्मा गांधी को पढ़ाते हैं तो जब तक मोहन दास के महात्मा बनने के सफर को अपने छात्रों के सामने नहीं रखेंगे, जब तक उपनिवेशवाद के उस घिनौने रूप को जिसके तहत गांधी को अश्वेत एवं दास होने के कारण अपमानित होना पड़ता है, नहीं दिखायेंगे तब तक अपने छात्रों को उस महानायक के चरित से आप अभिभूत नहीं कर पायेंगे । गांधी जब तक पाठ्य-पुस्तक का एक अध्याय मात्र रहेगा तब तक छात्रों के लिये उसका जीवन एक रूखा-यांत्रिक विवरण ही रहेगा । उन पर प्रभाव डालने वाला व्यक्तित्व नहीं बनेगा । इस तरह विज्ञान, गणित या साहित्य को अपने जीवन व उसकी आवश्यकताओं के संदर्भ में दिखलाना होगा । छात्रों को इनके प्रत्येक बिन्दु को अपने में समाहित कर लेने-आत्मसात कर लेने के लिये तैयार करना होगा। यह तभी संभव होगा जब उनकी हर प्रकार की शंकाएं शान्त होंगी, हर प्रश्न का उचित उत्तर उन्हें मिल जायेगा । इस जिज्ञासु मनोवृत्ति, सत्य की सौंदर्यमूलक अनुभूति को शिक्षार्थियों में विकसित करने के लिए जाहिर है वर्तमान पाठ्यक्रम का गंभीरता से विश्लेषण करना होगा और सूचनाओं की मात्रा और अधिक बढ़ाने की बजाय छात्रों के गुणात्मक ज्ञान और अनुभवों को बढ़ाने व व्यापक बनाने पर बल देना होगा । सूचना जीवन का हिस्सा नहीं बनती । इसलिये

वह कुछ समय तक याद रहती है फिर भुला दी जाती है । लेकिन उत्सुकता से अर्जित ज्ञान या अनुभव आजीवन व्यक्ति के साथ रहता है । नई शिक्षा मनुष्य की इस मन: शक्ति को विकसित करने पर अपना ध्यान केंद्रित कर सकती हैं इसके लिए पाठ्य पुस्तकों में संकलित सामग्री को कम करना होगा तथा शिक्षा में श्रम और गुणात्मकता को अधिक महत्व देना होगा । शिक्षकों को अपनी ओर से सब कुछ रेडीमेड देने की बजाय छात्रों को स्वयं कुछ करके सीखने पर जोर देना होगा । उसे कक्षा-कक्ष और पाठ्य-पुस्तक से पैदा की गई ऊब से निकाल कर लोगों से, प्रकृति से, पुस्तकालयों से सीखने के लिये प्रोत्साहित करना होगा । नयी शिक्षा में मात्र सूचना और पाठ्यपुस्तकीय ज्ञान की बजाय गुणवता, अनुभव और परिवेश से प्राप्त होने वाले ज्ञान को अधिक महत्व दिया जा सकता है । इससे छात्र सोचने अनुभव करने और रचना करने लायक बन सकते हैं ।

इसके अतिरिक्त नई शिक्षा जीवनानुभवों और दुनिया को समझने की प्रक्रिया के अभ्यास दिलाने का माध्यम भी बन सकती है । इसका अर्थ यह है कि शिक्षार्थी ज्ञान से एक प्रकार का गहरा रिश्ता-जुड़ाव महसूस करने लगे । किसी बात को इसलिए याद न रखे कि इससे परीक्षा में फायदा होगा बल्कि इसलिये आत्मसात कर ले कि यह जीवन में काम आयेगी । सूचना को बिना अनुभव किये ग्रहण किया जा सकता हैं पर स्थायी रूप से जीवन का अंग नहीं बनाया जा सकता । इस असंपृक्तता को शिक्षा से दूर करना बहुत जरूरी है। इस बात पर अब गहराई से सोचना ही होगा कि नागरिक शास्त्र में प्रथम श्रेणी के अंक प्राप्त करने वाला छात्र एक अच्छा जिम्मेदार नागरिक क्यों नहीं बनता ? महावीर, बुद्ध और गांधी को पढ़ने वाला छात्र सत्य, अहिंसा के अनुभवों से अछूता क्यों रहता है ? विज्ञान का अध्ययन कर इंजिनियर, डाक्टर बनने वाला व्यक्ति कैसे इस बात पर विश्वास कर लेता है कि गणेश जी की प्रतिमा दुग्धपान कर सकती है ? फिलहाल तो इन सब सवालों का उत्तर यही हो सकता है कि छात्रों ने इन विषयों को पढ़ा अवश्य है पर जीवन में धारण नहीं किया है, ऐसी स्थिति में लोगों का यह आवाज उठाना कि सच्चे ईमानदार व देशभक्त नागरिक बनाने के लिये छात्रों के लिए अनिवार्यत: नैतिक मूल्यों की शिक्षा दी जानी चाहिये, किसी सार्थक परिणाम तक नहीं पहुंचा जा सकता। क्योंकि वर्तमान व्यवस्था की विसंगति यह है कि छात्र को जो कुछ पढ़ाया जाता है उसे वह व्यवहार में नहीं लाता है और जो कुछ वह वास्तव में व्यवहार में लाता है वह उसे पढ़ाया नहीं जाता।

नई शिक्षा में स्थिति बदलेगी । रटी हुई सूचनायें छात्र को कोई लाभ नहीं पहुंचायेंगी । ज्ञान प्राप्ति के साथ उसके व्यवहार में आये परिवर्तन का भी आकलन होगा । शोर के प्रदूषण पर दो पन्ने लिख देने वाला छात्र इसे रोकने के लिए स्वयं क्या करता है इसकी भी जांच पड़ताल होगी । ज्ञान को वास्तविक जीवन के निकट लाने का यह प्रयास छात्र में आलोचक दृष्टि को विकसित करेगा। वह हर बात को इसलिये स्वीकार नहीं कर लेगा कि वे पाठ्य-पुस्तकों में लिखी हैं या अध्यापक ने बताई हैं, बल्कि वह खोज बीनकर उनकी सच्चाई का पता लगायेगा। जब अनुभवजन्य ज्ञान को महत्व मिलने लगेगा तो छात्र स्थापित मान्यताओं और आरोपित ज्ञान पर सवाल उठाने से चूकेगा नहीं । इस पद्धति से अब तक केंद्र में रहने वाला शिक्षक हाशिये पर चला जायेगा और छात्र उसका स्थान ले लेंगे । उनके क्रिया कलाप और अर्जित अनुभवों को महत्व मिलने लग जायेगा। तब सीखना यांत्रिक व उबाऊ प्रक्रिया नहीं रहेगा बल्कि आनंददायक व संतृप्ति प्रदात्री गतिविधि बन जायेगी ।

''तकनीकी शिक्षा को मात्र धंधों की शिक्षा तक सीमित नहीं किया जाना चाहिये । इसके साथ अर्थशास्त्र, नागरिक शास्त्र, और राजनीति शास्त्र भी पढ़ाया जाना चाहिये ताकि विद्यार्थी अपने समय की समस्याओं को जान सके और उनके समाधान निकालने में समर्थ हो सके ।''

तीसरी विशेषता इस नई शिक्षा की होगी - करके सीखना । आश्चर्य है गांधी की बुनियादी तालीम का पहला सूत्र ही काम करके सीखना था जिसे उसी के देश की शिक्षा पद्धति से बहिष्कृत कर दिया गया । आत जो सुशिक्षित उसे कहा जाता है जो काम नहीं करता, केवल सोचता है । उसकी सोच का उत्पादक क्रियाओं से कोई संबंध नहीं होता । इसलिए हाथ से काम करने वाले को हेय दृष्टि से देखा जाता है । वर्तमान स्कूली शिक्षा भी काम करके पाये जाने वाले अनुभव को कोई महत्व नहीं देती । यही कारण है कि काम करने वाली जातियों के लड़के पढ़ लिखकर उनकी संतान ऊंचे दरजे का काम अर्थात जिसमें हाथ से कुछ न करना पड़े, करें, इसी मनोवृत्ति ने आरक्षण की अवधारणा को जन्म दिया है । क्योंकि अनुसूचित जाति/जनजाति और पिछड़ी जाति के जो लोग उत्पादक कार्य में लगे थे उन्हें भी इस जमाने में आकर यह महसूस होने लगा कि उनके काम के मुकाबले सरकारी नौकरियां बेहतर हैं । इसलिए

उन्हें उनमें हिस्सा मिलना चाहिये ।

लोगों को यह एतराज हो सकता है कि इस तरह से शिक्षित लोग बाजार की मांग पूरी नहीं कर सकेंगे । जबकि त्वरित विकास के लिये देश में औद्योगिकीकरण का विस्तार करना है । इसके लिये कुशल कारीगरों, इंजिनियरों की काफी बड़ी तादाद में जरूरत है । इसकी पूर्ति व्यावसायिक शिक्षा के प्रसार से ही हो सकती है। लेकिन जिस तरह की टैक्नीकल व व्यावसायिक शिक्षा आजकल दी जा रही है वह तो पूंजीवाद को बढ़ावा देने वाली है । वे उद्योग जिनके लिये यह कुशल कामगार या विशेषज्ञ तैयार करती है, ऐसे उत्पादन में लगे हैं जो कुल आबादी के 10 से 15 प्रतिशत नव धनिक वर्ग के सदस्यों के लिये उपयोगी होते हैं । इनका हुनर आम लोगों के काम में आने वाला नहीं होता । यह तकनीकी कौशल भी अभिजात लोगों की संख्या में और वृद्धि करता है । अंग्रेजी शिक्षाविद् जॉन ड्यूवी ने आज से काफी समय पहले ही इस खतरे को भांप लिया था और कहा कि -

''तकनीकी शिक्षा को मात्र धंधों की शिक्षा तक सीमित नहीं किया जाना चाहिये । इसके साथ अर्थशास्त्र, नागरिक शास्त्र, और राजनीति शास्त्र भी पढ़ाया जाना चाहिये ताकि विद्यार्थी अपने समय की समस्याओं को जान सके और उनके समाधान निकालने में समर्थ हो सके ।''

नई शिक्षा तकनीकी के ऐसे जानकार बनाना चाहती है जो किसानों, मजदूरों, ग्रामवासियों और अधीनस्थ लोगों के समुदाय के प्रति जवाबदेह हों । तात्पर्य यह है कि वह बाजार की मांग को पूरा करने वाला नहीं, आम लोगों की जरूरतों को पूरा करने वाला बने। काम करके सीखने का मतलब ही यह है कि विद्यार्थी आरंभ से ही काम की महत्ता को समझे । वह यह सवाल करे - काम का अर्थ क्या है ? उसके काम की कीमत क्या है ? उसके काम से किसे फायदा है ? क्या उसका काम प्रकृति विरोधी है ? क्या उसका काम समाज के सभी वर्गों के लिये उपयोगी है ? आदि । इन या ऐसे ही प्रश्नों के उत्तर सही तरह के काम में लगने के लिए छात्र को तैयार करेंगे । वह लोगों को नुकसान पहुंचाने वाले कामों से स्वयं को अलग रखेगा । काम के महत्व को समझने पर वह उन गरीब लोगों से नफरत नहीं करेगा जो उत्पादक कार्यो में यथा सामर्थ्य लगे हुए हैं । परन्तु इस तरह की नई शिक्षा के लिये अलग ढंग का पाठ्यक्रम बनाना होगा । वर्तमान पाठ्यक्रम में उद्योग या कार्यानुभव जैसे विषय जोड़ देने से काम नहीं चलेगा । पाठ्यक्रमेतर प्रवृत्ति बना देने से तो सीखना गायब हो जायेगा और काम उपहास का विषय बन कर रह जायेगा ।

इसके क्रियान्वयन के लिये जहां पाठ्यक्रम को गतिविधि आधारित बनाना होगा, स्कूल को समुदाय की जरूरतों के अनुरूप बनाना होगा, वहीं अध्यापकों की सोच को बदलने के लिये उनका अभिमुखीकरण भी करना होगा । क्योंकि नयी व्यवस्था में उनकी भूमिका पूरी तरह से बदल जायेगी । अभी तो उसे पाठ्यक्रम, पाठ्य पुस्तकें और परीक्षाओं से आगे सोचने का अवसर ही नहीं मिलता। सब कुछ ऊपर से पूर्व निर्धारित कर दिया जाता है । उसे इस रूटीन में थोड़ा सा भी हेर फेर करने की आजादी नहीं रहती । वह कक्षा कक्ष में तानाशाह तुगलक की तरह रहता है । बच्चों को वाजिब सवाल तक पूछने की वह आजादी नहीं देता । इसलिये नयी तरह के शिक्षक तैयार करने होंगे । ऐसे शिक्षक जो शिक्षण को एक सार्थक क्रिया, एक आनन्ददायक अनुभव और स्वयं की उन्नति एवं संतोष का साधन मानें । अपने काम के सकारात्मक आत्म बोध से संपन्न शिक्षक जब कक्षा कक्ष में जायेगा तो निश्चय ही वह बच्चों को उत्साहित करेगा और माहौल को जीवन्त बनायेगा । जब उसे पाठ्यक्रम और परीक्षा के आतंक से मुक्ति मिलेगी तो वह छात्रों के दिमाग में सूचनायें ठूंसने की बजाए उन्हें स्वयं कुछ करके सीखने का अवसर देगा । उनसे सवाल जवाब करेगा और इस तरह उनकी आलोचनात्मक क्षमता को और तीव्र करेगा । इस प्रक्रिया में वह नियन्ता नहीं स्वयं भी भागीदार होगा जिससे वह सिखाने के साथ साथ सीखेगा भी ।

लेकिन शिक्षा को समसामयिक संदर्भों से काटकर भी तो नहीं देखा जा सकता । यदि राजनैतिक, आर्थिक व सामाजिक स्थितियां ऐसे ही रहती हैं तो अकेली शिक्षा भला क्या कर सकती है ? कितनी भी सुधार की क्रांतिकारी योजनायें बनाई जायें माहौल को बदले बिना शिक्षा कोई महत्वपूर्ण बदलाव नहीं ला सकती । तो पहले स्थितियों को बदला जाये या शिक्षा को ? इस सवाल का जवाब निश्चयात्मक कुछ नहीं हो सकता । हां, यह मानकर कि दोनों परस्पर संबद्ध है और वर्तमान जनतांत्रिक व्यवस्था का कोई अधिक कारगर एवं उपयोगी विकल्प खोज निकालने के प्रयास शुरू हो गये हैं । इसी तरह राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 की विफलता और उसके प्रदूषक परिणाम भी सामने आने लगे हैं। लोग वर्तमान शिक्षा व्यवस्था की कड़ी आलोचना करने लगे हैं । व्यवस्था और शिक्षा दोनों में क्रांतिकारी बदलाव लाने की इच्छा जन मन में जाग्रत होने लगी है। आवश्यकता है इस इच्छा की सामूहिक अभिव्यक्ति की और सरकार पर इस दिशा में कुछ ठोस कर दिखाने का दबाव बनाने की ।◆